



**पुरुषार्थमूर्ति पूज्य श्री निहालचंद्र सोगानीजी द्वारा
साधमींओं को लिखे हुए आध्यात्मिक पत्र**

९

कलकत्ता

५-७-१९५३

धर्मप्रेमी... से निहालचंद्रका धर्मस्नेह।

कार्ड आपका मिला। पूर्व पत्र कुछ चिंतित दशाके समयलिखा गया था, अतः शायद आपको कुछ खयाल-सा हुआ दिखता है। जिस सामान्य ध्रुवस्वभावमें चिंता व अचिंता - दोनों ही पर्यायका अभाव है, उसके आश्रय पश्चात् बेचारी अल्प चिंताकी स्थिति ही कितनी?

पूज्य गुरुदेवश्रीकी अनुभवरससे भीगी हुई वाणी वहाँ 'कर्ता-कर्म अधिकार'की वर्षा कर रही है - अहा! आपकी इस हार्दिक भावनाका मैं हृदयसे स्वागत करता हूँ कि मैं भी आप सबोंके संग इस वर्षामें स्नान करूँ। अरे विकल्प! यदि तुझे तेरी आयु प्रिय है तो अन्य सबको गौण कर व गुरुदेवके संगमें ले चल, वरना उनका दिया हुआ वीतरागी अस्त्र शीघ्र ही तेरा अंत कर डालेगा।

स्वसंग, गुरुसंग व मुमुक्षुसंगके अलावा दूसरे संगको नहीं इच्छते हुए भी, अरे प्रारब्ध! विषतुल्य संगमें रहना पड रहा है, खेद है।

पूर्ण चेष्टा है, शीघ्र योग मिलते ही वहाँ आऊँ; परंतु अभी कोई नज़दीक समय दिखाई नहीं देता है, फिर भी प्रयत्न पूरा है। सबोंको यथायोग्य।

धर्मस्नेही निहालचंद्र

**करुणासागर पूज्य भाईश्री 'शशीभाई' के ८५वें जन्म-जयंती
महोत्सव पर धार्मिक कार्यक्रम**

मुमुक्षुजीवों के परम तारणहार पूज्य भाईश्री शशीभाई का आगामी ८५वी जन्म जयंती महोत्सव मार्गशीर्ष सुदी-४, दि. २३-११-१७ से मार्गशीर्ष सुदी-८, दि. २७-११-१७ पर्यंत अत्यंत आनंदोल्लासपूर्वक मनाया जायेगा। इस प्रसंग पर मंडल विधान पूजन, पूज्य भाईश्री के ऑडियो एवं विडीयो सी.डी. प्रवचन, पूज्य गुरुदेवश्री के विडीयो सी.डी. प्रवचन, पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन की तत्त्वचर्चा, भक्ति, सत्संग, सांस्कृतिक कार्यक्रम रहेंगे और दि. २६-११-२०१७ के दिन जिनेन्द्र रथयात्रा का कार्यक्रम रहेगा। इस प्रसंग पर आनेवाले मुमुक्षु ट्रस्ट के कार्यालय में यह पर पहुँचने की तारीख लिखें, जिससे उनकी आवास एवं भोजन की समुचित व्यवस्था हो सके।

कार्यक्रम स्थल :- श्री शशीप्रभु साधना-स्मृति मंदिर, प्लोट नं. १९४२-बी, शशीप्रभु चोक, रूपानी सर्कल के पास, भावनगर-३६४००१

संपर्क : श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट, ५८०, जूनी माणेकवाड़ी, पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी मार्ग, भावनगर-३६४००१.

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५४४: अंक-२३९, वर्ष-२२, अक्टूबर-२०१७

आषाढ शुक्ल ४, बुधवार, दि. २२-६-१९६६, योगसार पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, प्रवचन-१५, गाथा-४०

४०। 'ज्ञानी को हर जगह आत्मा ही दिखता है।' इस देह में विराजमान चैतन्यस्वरूप ज्ञानानन्द है, यह देहादि वाणी आदि तो जड़ है, यह तो मिट्टी है। रागादिभाव होते हैं, वह तो विकार, दोष है, वह आत्मा नहीं है; अतः आत्मा के जाननेवाले को सर्वत्र आत्मा ही भासित होता है, यह बात यहाँ अधिक कहते हैं।

को सुसमाहि करउ को अंचउ, छोपु-अछोपु करिवि को वंचउ।

हल सहि कलहु केण समाणउ, जहिं कहिं जोवउ तहिं अप्पाणउ।।४०।।

देखो! यहाँ जोर है। जहाँ देखते हैं, वहाँ आत्मा दिखता है। 'कौन समाधि करे, कौन अर्चा-पूजा करे...' भगवान आत्मा ज्ञान चैतन्यसूर्य प्रभु आत्मा है। ऐसा जहाँ अन्तर में भासित हुआ, अब उसे समाधि करूँ-यह कहाँ रहा? स्वरूप ही ज्ञान है। मैं आनन्द और ज्ञानस्वरूपी आत्मा हूँ-ऐसा जहाँ भासित हुआ, वहाँ उसे दूसरे सभी आत्मा भी ज्ञान और आनन्दमय है-ऐसा भासित होता है। समझ में आया?

यह आत्मा ही ज्ञान और आनन्दस्वरूप है। यह शरीर, वाणी तो जड़ है, मिट्टी है। दया, दान, काम, क्रोध के शुभ-अशुभभाव होते हैं, वह तो विकार है, उस विकाररहित आत्मा अन्तर में जहाँ जाना, कहते हैं कि, उसे अब क्या करना रहा? समझ में

आया? अब 'कौन समाधि करे...' समाधि अर्थात् ऐसे स्थिर हो... जाना कि आत्मा है, उसमें स्थिर हुआ ही है। समझ में आया?

'कौन अर्चा या पूजन करे...' स्वयं भगवान ज्ञानस्वरूपी आनन्दमूर्ति का जहाँ भान हुआ, वह आत्मा में ही स्वयं परमात्मस्वरूप का धारक, किसकी अर्चा-पूजा करना इसे अब? पूजा और अर्चा जो पर की करता था, वह तो शुभभाव था। भगवान की पूजा और अर्चा यह तो शुभ-पुण्यभाव था। वह पुण्यभाव जहाँ मैं नहीं, मैं तो ज्ञानस्वरूपी चिदानन्द आत्मा हूँ-ऐसा भान होने पर वह किसकी पूजा करे? वह तो अपनी पूजा करता है। आहाहा..! अर्चा.. अर्चा है न? किसे अर्चे? भगवान को अर्चता है न? पूजा करता है, वह तो शुभभाव होता है तब होता है। परन्तु जहाँ आत्मा ही शुभभाव से भिन्न भासित हुआ, चैतन्यस्वरूप भासित हुआ और उसमें स्थित हुआ तो वह स्वयं की पूजन करता है, स्वयं, स्वयं को अर्चना और बहुमान देता है। अब उसे दूसरे की पूजन करतना नहीं रहा। समझ में आया?

'कौन स्पर्श-अस्पर्श...' करे। समझ में आया? यह अमुक हाथ का स्पर्श करना है, अमुक हाथ का स्पर्श नहीं करना, यह स्पर्श करने योग्य है, यह अस्पर्श करने योग्य है, यह छूने योग्य नहीं, यह छूने योग्य नहीं, यह छूने योग्य है... परन्तु वस्तु

के ज्ञानस्वरूपमें यह है कहाँ? किसे स्पर्श और किसे अस्पर्श? स्पर्श-अस्पर्श की बुद्धि तो बाह्य लौकिक में है। भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु पूर्णानन्द का स्वरूप जहाँ स्वयं ही आत्मा सच्चिदानन्द है-ऐसा अन्तर में भान का भास और भाव प्रगट हुआ तो कहते हैं कि किसके साथ स्पर्श-अस्पर्श? फिर इस चीज को छूना नहीं, इस माँस को छूना नहीं, पानी को छूना, अच्छी चीज को (छुआ जाता है), यह वस्तु में कहाँ रहा? समझ में आया? **‘छोपु अछोपु करिवि है।’** कौन स्पर्श करे? वस्तु ही भगवान आत्मा अपने चैतन्यमन्दिर में विराजमान है, उसे जहाँ अन्तर में जाना, देखा, अनुभव किया-ऐसे आत्मा को अब स्पर्श-अस्पर्श कुछ नहीं रहता। समझ में आया?

‘को वंचउ कौन वंचना या मायाचार करे?’ भगवान आत्मा जानने-देखनेवाला चिदबिम्ब है, ऐसा आत्मा का भान हुआ तो दूसरे आत्माएँ भी ऐसे हैं। दूसरे देह में विराजमान आत्मा भी देह, वाणी से

भिन्न, इस मिट्टी से भिन्न हैं और इन राग-द्वेष से भी पृथक् अन्दर चैतन्य आनन्द है। किसे ठगूँ और किसे नहीं ठगूँ? ऐसा कुछ उसमें नहीं रहता। आहाहा..! **‘कौन वंचना या मायाचार करे?’** किसके साथ मायाचार करे? सब भगवान आत्मा चैतन्य ज्योत प्रभु आत्मा है, आनन्द की मूर्ति वह आत्मा है। विकार और शरीर, वह आत्मा नहीं है-ऐसा जिसने आत्मा को जाना, वह किसे ठगे? किसके साथ माया करे? सब भगवान दिखे, उसमें माया किसके साथ करे?-ऐसा कहते हैं। आहाहा..!

भगवान ज्ञानस्वरूपी प्रभु! यह योगसार है।

चैतन्यभगवान ज्ञान और आनन्द का सागर प्रभु है-ऐसा जहाँ योग अर्थात् अपने भाव का जुड़ान जहाँ स्वभाव के साथ हुआ, अब वह दूसरे के साथ मायाचार, वंचना करने का कहाँ रहा? समझ में आया? इस आत्मा को जानता नहीं था, तब तक वह मायाचार करता था। किसी दोष को छुपाना, इसे ऐसा बताऊँ, इसे यह बताऊँ, यह तो आत्मा को जानता नहीं था कि आत्मा ऐसा है ही नहीं। राग, द्वेष और माया, कपट यह माया आत्मा का स्वरूप ही नहीं है। इस आत्मा को जानने पर कौन मायाचार करे?

‘कौन किसके साथ मैत्री और कलह करे?’

शत्रु... शत्रु... ओहोहो..! यह आत्मा देह के रजकणों से भिन्न और पुण्य-पाप के राग से भिन्न है- ऐसा जहाँ ज्ञानस्वरूपी आत्मा का भान हुआ, वह किसके साथ मैत्री करे? सब परमात्मा हैं, मैत्री किसके साथ करना? कहो, भाई! किसका भजन करना?-ऐसा कहते हैं। यह भजन करनेवाला



आत्मा जगा, चैतन्यमूर्ति में हूँ, आनन्द का कन्द, वह अतीन्द्रिय आनन्द के मन के अन्दर फिरता है। आहाहा..! समझ में आया? देह से, यह रजकण, मिट्टी, धूल, राग, मलिनता है। निर्मलानन्द प्रभु आत्मा, वह मैं हूँ-ऐसा जहाँ अन्दर में भासित हुआ, उसे तो निर्मल ज्ञान और आनन्द के मनके पर्याय में फिरते हैं। किसे फेरना? कौन सी माला इसे गिननी? किसकी माला गिननी? आहाहा..! किसके साथ मैत्री करना? समझ में आया? किसके साथ क्लेश करना?

‘कलहु’ अर्थात् शत्रुता। किसके साथ क्लेश करे? भगवान आत्मा शान्त-आनन्द ज्ञानमूर्ति को

आत्मा कहते हैं-ऐसा शान्तस्वभाव जहाँ ज्ञात हुआ, (वहाँ) किसके साथ क्लेश (करे)? स्वयं के साथ क्लेश नहीं, स्वयं में क्लेश नहीं, पर के साथ कहाँ क्लेश करे? पर-आत्मा में क्लेश देखता नहीं। पर के आत्मा में क्लेश है नहीं, वे तो क्लेशरहित आत्मा है। आहाहा..! समझ में आया? किसके साथ क्लेश करे?

‘जहिं कहिं जोवउ तहिं अप्पाणउ’ वजन यहाँ है, हाँ! **‘जहाँ कहीं देखो, वहाँ आत्मा ही आत्मा दृष्टिगोचर होता है।’** इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि समस्त आत्माएँ एक ही हैं-ऐसा यहाँ नहीं कहना है। जहाँ देखो उसकी दृष्टि में से राग-द्वेष और शरीर से उठ गयी है, राग-द्वेष के भाव से, शरीर से उठकर (मैं) आत्मा ज्ञान हूँ-ऐसी हो गयी है; इसलिए ऐसा ही आत्मा जैसे अपने को देखता है-ऐसे दूसरे आत्मा को भी ऐसा देखता है। आत्मा दूसरे का है-ऐसा देखता है। रागादि, शरीरादि तो अजीव में जाते हैं। समझ में आया?

पहले जीव-अजीव का भेद कहा, फिर केवलज्ञानस्वभावी जीव कहा-ऐसा जाना उसे दूसरे के साथ कलह करना कहाँ रहा? दूसरे का पूजन करना कहाँ रहा? स्वयं ही पूजने योग्य-ऐसा आत्मा अपने ज्ञान में ज्ञात हुआ, उसे दूसरे के साथ क्लेश, शत्रुता या पूजन-यह कुछ नहीं रहता। आहाहा..! समझ में आया?

‘जहिं कहिं जोवउ तहिं अप्पाणउ’ जहाँ-जहाँ देखो वहाँ भगवान आत्मा (दिखता है)। आहाहा..! धर्मी जीव अपने आत्मा को विकार और शरीर के संयोगरहित देखता है तो जैसी दृष्टि से स्वयं को देखता है, वैसी ही दृष्टि से दूसरे आत्माओं को देखता है। समझ में आया? दूसरे का आत्मा, यह रागवाला आत्मा देखे? राग तो विकार है। शरीरवाला आत्मा देखेगा? शरीर तो अजीव है। समझ में आया? दूसरे के आत्मा को भी आत्मदृष्टि से स्वयं को जैसा देखा-राग और विकाररहित, शरीररहित वह आत्मा-

ऐसा जहाँ भान हुआ, ऐसी दृष्टि दूसरे आत्मा को भी आत्मा, आत्मा देखता है। जहाँ देखता है वहाँ आत्मा की पर्याय अपने (जैसी) देखता है। दूसरे प्रकार से ऐसा है। सूक्ष्म बात रखी है।

‘जहिं कहिं जोवउ तहिं अप्पाणउ’ इसका अर्थ क्या? आत्मा दूसरा है-ऐसा देखता है। यह परमाणु आदि को देखे तो भी उसमें ज्ञान देखता है कि मैं इन्हें जाननेवाला हूँ, यह तो जड़ हैं। समझ में आया? रागादि को जानता है तो जाननेवाला तो ज्ञान है, उस ज्ञान को जानता है। शरीर को जानते हुए ज्ञान है, उस ज्ञान को ज्ञान जानता है अर्थात् आत्मा ही जहाँ हो, वहाँ ज्ञात होता है-ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

अपनी मौजूदगी में तो ज्ञानस्वरूप आत्मा है-ऐसा जाना तो दूसरे की मौजूदगी को देखने पर भी उसका ज्ञान ही स्वयं का उसमें होता है, उस ज्ञान को ही स्वयं देखता है। इसलिए जहाँ देखो वहाँ आत्मा, आत्मा और आत्मा... यह स्वयं का आत्मा का ज्ञान ही देखता है। अद्भुत बात, भाई! ऐसा यह धर्म किस प्रकार का? इसने कभी सुना नहीं है।

अनन्तकाल में भटक-भटक कर मर गया। चौरसी के अवतार में भुक्का (निकल) गया। अनादि का आत्मा कहाँ नया है? आत्मा कहीं नया होता है? अनादि का है परन्तु अनादि का वह स्वयं कौन तत्त्व है, उसका ज्ञान, ज्ञान, ज्ञान चैतन्यज्ञान है-ऐसा कभी जाना नहीं। यह तो राग वह मैं, शरीर की क्रिया वह मैं, मैं पर का कुछ कर दूँ, पर से मुझमें कुछ होवे वह मैं, यह सब आत्मा को अनात्मा के रूप में माना है। समझ में आया?

कोई अमुकभाई नहीं, सब आत्मा है-ऐसा जानें। उस समय जाननेवाले का ज्ञान जाननेवाले के ज्ञानरूप ज्ञातारूप से परिणमता है, उसे जाने ऐसे निश्चय की बात यहाँ की है। वह जैसा है-ऐसा जाने। समझ में आया? उसकी पर्याय भी जैसी है, ऐसी जानें

परन्तु उस पर्याय का ज्ञान होने पर ज्ञान स्वयं का होता है न? सामनेवाले के दोष का ज्ञान हुआ परन्तु वह ज्ञान हुआ न? उसमें ज्ञान हुआ (वह) तो स्वयं में हुआ है और स्वयं का ज्ञान हुआ है, दोष का ज्ञान नहीं। समझ में आया? दूसरे के आत्मा, जड़ को देखनेवाले की मुख्यता में ज्ञान न हो तो यह है, ऐसा निर्णय किसने किया? यह तो स्वयं जानता है, यह तो स्वयं जानता है। जहाँ हो वहाँ मेरा ज्ञान, जहाँ हो वहाँ मेरा ज्ञान। हैं? स्वयं का ज्ञान दिखता है-ऐसा कहते हैं।

मेरा ज्ञान आया था या नहीं? वह पुस्तक नहीं, नहीं? मेरा ज्ञान कहा था न? हैं? अभी रख दी लगती है। सेठिया का है न? मेरा ज्ञान, मेरा ज्ञान, वहाँ कहा है न? हैं? लड़का मर गया, लड़के का लड़का (मर गया).. मुर्दा पड़ा था, उसकी माँ को कहे, क्या है? मैं गायन बनाऊँ वह बोल.. रोने का क्या? इसमें किसका रोना लगे? रोनेवाला नहीं रे रहनेवाला रे... रोनेवाला रहनेवाला नहीं है! किसकी लगाना इसमें? समझ में आया? सेठिया है, हाँ! सरदारशहर का गृहस्थ व्यक्ति है। अन्तर अरहन्त ध्याये, सम्यक्सूर्य उगसे जी... मेरा ज्ञान... मेरा ज्ञान... यह बहिर्ने रोवे तब कहे न? मेरा पेट.. मेरा पेट..। अब पेट रख न, पेट कब तेरा था? लड़का मर जाये तो कहे मेरा पेट... मेरा (पेट)। ऐसा, स्त्रियाँ बोलती हैं। बोलती हैं-ऐसा थोड़ा-थोड़ा सुना है। ऐसी उनकी मथने की सब रीति होती है, मूढ की।

यहाँ कहते हैं कि परन्तु 'गुणी जन सम्यक् सिद्ध प्रभु नित ध्यावे, चैतन्य सूर्य उगसे जी, महारा ज्ञान...' मेरा ज्ञान... मेरा ज्ञान... मेरा ज्ञान... सेठिया है न? सेठिया, सरदारशहर का। पूरे दिन उनके घर में ऐसी ही बातें कहते हैं। गृहस्थ व्यक्ति हैं, पाँच-सात लाख रुपये। गृहस्थ व्यक्ति.. बस! यह सबको (कहे) मर गया लड़का, लड़के का लड़का... घर में मुर्दा पड़ा है, बड़ी बिल्डिंग है, पैसावाला है, लड़के की बहू से कहे क्या करना है? रोना है?

नहीं, बापूजी! आप कहो, फिर गीत बनाया। मुर्दे के पास यह गीत बोले... फिर सगे-सम्बन्धी सभी लोग आये सभी साथ में गीत बोलने लगे... रोना किसका? इसमें किसका रोना? समझ में आया? यह गीत उस दिन वहाँ बोले थे, हाँ! हैं?

'गुणीजन अर्थ ग्राही उपयोग, गुणीजन...' पदार्थ जो है, उसे जाननेवाला मेरा उपयोग है, मेरा आत्मा अर्थ/वस्तु जो है, उसे जाननेवाला मेरा उपयोग है। मेरी चीज ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा, उसे ग्रहण करनेवाला मेरा उपयोग है। 'चैतन्य निज प्राण छे जी...' समझ में आया? 'गुणीजन ज्ञायक ज्योत जगाय, देखो तो शान्ति जीव में, जी' किसकी लगायी इसमें? ए.. भाई! तीन-तीन वर्ष का लड़का मर गया है। वे गृहस्थ लोग इसलिए छोड़ो रोना। किसका रोना-धोना? वह तो आत्मा है, अब यहाँ से चला गया, इतने दिन यहाँ शरीर में रहा। अब अन्यत्र गया? वहाँ कहाँ आत्मा नष्ट हो ऐसा है। आहाहा..! समझ में आया?

यह धर्मी के जीवन में क्षण-क्षण में वैराग्य होता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा..! ऐसे प्रसंग में हो, परिवार में हो फिर भी मेरा ज्ञान... मेरा ज्ञान.. उस क्षण मैं तो जानने-देखनेवाला वह मेरा ज्ञान, बाकी तो वह (पुत्र) मेरा नहीं, राग मेरा नहीं, कोई मेरा नहीं। समझ में आया? सही समय पर काम आये या नहीं? बातें करे (काम न आवे) परन्तु जब मरण हो घर में बीस वर्ष का (लड़का) मर गया हो, फिर पता पड़े... हैं? अरे! भाई मर गया, कौन मर जाता है? आत्मा मरता होगा? शरीर मरता होगा? यह तो मिट्टी है, यह तो पर्याय-अवस्था बदली दूसरी हो गयी, राख की हो गयी। यहाँ थी (अब) राख की हो गयी। मरे कौन?

आत्मा त्रिकाली सनातन शुद्ध चैतन्य है, उसके भान में कहते हैं। देखो! समझ में आया? देखो! यह अन्तिम आया 'गुणीजन जडसुख छे जी जंजाल' यह कल्पना की है कि इसमें सुख है और इस लड़के

में सुख है, पैसे में सुख है; धूल है मूढ़! 'गुणीजन जड़ सुख छे जी जंजाल, आनन्दघन आप छे जी' मैं आनन्दघन आत्मा हूँ, आनन्द का धारक आत्मा। यह सही समय पर इसकी कसौटी होती है। भाई! यह बीस वर्ष का मर जाये और स्त्री छोड़कर बैठ जाये, और दूसरे रोने लगे... हाय... हाय..! क्या है परन्तु? किसकी लगा रखी है? श्मशान है यहाँ? यहाँ तो आत्मा है। आहाहा..!

भगवान आत्मा ज्ञान की मूर्ति है-ऐसा जहाँ अन्तरभान हुआ, कहते हैं कि वह सर्वत्र ज्ञान ही देखता है। ज्ञान अर्थात् यहाँ आत्मा। समझ में आया? आहाहा..! 'एक अद्वैत आत्मा का ही अनुभव आ रहा है, अनुभव के समय में तो अपने में ही लीन होता है।' अनुभव के काल में हमें जाननेवाला देख-ऐसा कहते हैं। 'अनुभव की माता भावना है।' ऐसा कहकर बहुत लम्बा किया है, दृष्टान्त दिया है, जरा! ठीक कहा है। 'जैसे कोई खेत में जाये...' यह चने पकते हैं या नहीं? चने.. खेत में चने पकते हैं न? चने, उसकी नजर चने पर होती है, कितने चने हुए? ऐसी (नजर) होती है। पत्तों और जड़ पर नहीं होती। खेत होवे न दो-पाँच? उसकी नजर वहाँ (चने पर होती है)। यहाँ तो चना क्यों लिया है? चना खाने में तुरन्त ही मिठास लगती है? कच्चा भी अच्छा लगता है और पका भी अच्छा लगता है। वह चना देखने जाये और वे गुच्छे हुए हों न? उस चने पर उसकी नजर होती है, उन पत्तों पर नहीं। कितने पके हैं? चने कितने हुए हैं? पूरे खेत में फिरे तो चने पर नजर (होती है)। फल अच्छा आया है चने का फल अच्छा आया है-ऐसा कहते हैं। समझ में आया? 'वह डाली पत्ते, मूल को नहीं देखता और कहता है कि इस खेत में से पाँच मण चना निकलेगा।' ऐसा कहे, लो! इस एक बीघा में पाँच मण चना (निकलेगा), चना आयेगा, ऐसा कहते हैं। पत्तियाँ आर्येगी-ऐसा वह कहता है?

दूसरा दृष्टान्त दिया है, सोने में मणि जड़ी हुई हो। स्वर्ण में मणि जड़ी होती है न? 'जब झवेरी के पास बेचने ले जाओ तब वह केवल मणियों को देखता है...' ऊँचा झवेरी अन्दर मणि-मणि देखता है। सोना किसलिए (देखे)? उसे तो मणि लेना है। मणि, मणि, मणि... मणि स्वर्ण पर नजर नहीं और स्वर्णवाले के पास जाओ तो मणि नहीं देखता। वह सोना-सोना देखता है, बात सत्य है। समझ में आया? आहाहा..!

इसी प्रकार भगवान आत्मा जहाँ देखो वहाँ में जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला... मेरे जानने में ज्ञान का फल जानने का आया है, उसे वह देखता है। समझ में आया? दृष्टान्त ठीक किया है। इतने लोगों का कुछ चलता होगा, चना... चना... चना... देखे, मीठे सरस लगते हैं। चने पर नजर है, वह चने देखता है। इसी प्रकार आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है-ऐसी जिसे आत्मा की श्रद्धा और भान हुआ है, वह जहाँ हो वहाँ आत्मा का ही पाक देखता है। मैं जानने-देखनेवाला, जानने-देखनेवाला, जानने-देखनेवाला, जानने-देखनेवाला... दूसरा मुझमें है नहीं, मैंने दूसरा जाना-देखा नहीं, मैं ही मुझे जानने-देखनेवाला.. दूसरा मुझमें है नहीं, मैंने दूसरा जाना-देखा नहीं, मैं ही मुझे जानने-देखनेवाला हूँ। कहो, समझ में आया? यह सब (लिया है)। 'व्यवहार निश्चय की अपेक्षा से असत्य है।'

किसके साथ मैत्री और किसके साथ (क्लेश) करना? समझ में आया? एक दृष्टान्त सर्वार्थसिद्धिमें दिया है, वह जरा ठीक लगता है। सामायिक का, यह आत्मा की सामायिक किसे कहें कि-
एकत्वेन प्रथमं गमनं समयः, समय एव सामायिकं, समय प्रवर्तानमस्येति वापिगृह्य सामायिकं॥ अ.७, सूत्र २१॥

'आत्मा के साथ एकमेक हो जाना, आत्माय हो जाना, वह सामायिक है।' यह

सामायिक लेकर बैठते हैं न? वह सामायिक कहाँ है? आत्मा का भान तो कुछ है नहीं, सामायिक करके बैठे, किसकी? धूल की सामायिक? जिसने आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप को देखा, जाना है, वह ज्ञान में लीन हो जाता है, उसे सामायिक कहते हैं। कहो, समझ में आया? सामायिक-सम-समतास्वरूप चैतन्य ज्ञान में ज्ञान की लहर में, लहर में लीन हो गया, जो समतास्वरूप कायम है, उसके अन्दर में वर्तमान पर्याय से समता में लीन हो गया, उसे सामायिक कहते हैं। समझ में आया? बहुत से यह सामायिक करते हैं या नहीं? हम सामायिक करते हैं! ऐ.. यह सब करते हैं, यह सब प्रतिमाधारी नाम धराकर सामायिक करते हैं, सबेरे-दोपहर सामायिक करते हैं। किसकी सामायिक? आत्मा जाने बिना कहाँ से होगी? पहले आत्मा ही कौन है, इसकी खबर बिना एकाग्र किसमें होगा? यह सब ऐसे के ऐसे... आहाहा..!

मुमुक्षु :- हिले-चले बिना स्थिर रहते हैं।

उत्तर :- हिले-चले कौन? शरीर नहीं चले, उसमें इसके बाप का क्या हुआ? आत्मा अन्दर हलचल करता है। खलबलाहट... पुण्य-पाप के विकल्प उठाकर मेरे हैं, और उस पर दृष्टि पड़ी है, वह सब खलबलाहट हो रहा है। णमोकार गिनता हो या भगवान के भजन

का विकल्प उठता हो, वह विकल्प मेरा है (ऐसी) दृष्टि वहाँ पड़ी है। वस्तु ऐसी भिन्न है, उसका तो भान नहीं... भान नहीं और विकल्प पर दृष्टि है तो वह सामायिक में है या मिथ्यात्व में है? मिथ्यात्व ही है। ए... भाई!

श्रोता :- नये व्यक्ति हैं।

उत्तर :- आ गये न अब, पकड़ में आ गये अब।

आत्मा कैसा है? आत्मा कौन है? यह जाने बिना, उसके साथ एकमेक कौन होगा? ऐसा कहते हैं। ऐसा कहा न? सामायिक की व्याख्या की न? सर्वार्थसिद्धि, हाँ! पूज्यपादस्वामी... आहाहा..! **‘आत्मा के साथ एकमेक हो जाना, आत्माय हो जाना, वह सामायिक है।’** आत्मा पहले सम्यग्ज्ञान में, दर्शन में भासित हुए बिना एकमेक होना कहाँ से होगा? यह तो देह की क्रिया में करता हूँ, ऐसा बैठा तो (मानता है कि) मैं बैठा... कुछ राग होवे तो यह मेरा आत्मा है-ऐसा तो यह मानता है। अनात्मा को आत्मा मानता है तो स्थिर किसमें होगा? (अनात्मा में) एकाग्र हुआ। आत्मा रागरहित और शरीररहित चीज है, उसका ज्ञान हो, वह उसमें स्थिर हो, उसे सामायिक कहते हैं। यह ४० (गाथा पूर्ण) हुई।

सुप्रभात

जन्म-मरण एवं समस्त दुःख का मूलकारण ऐसे मिथ्यात्वरूपी अंधकारका नाश करके सम्यग्ज्ञानरूपी सुप्रभात प्रगट करके सादिअनंत काल पर्यंत शाश्वत सुख-शांतिकी प्रगटता हो, ऐसी भावना के साथ स्वानुभूतिप्रकाश के सर्व पाठकवर्ग को नुतन सुप्रभातकी शुभकामना।

- स्वानुभूतिप्रकाश परिवार

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (अक्टूबर-२०१७) का शुल्क श्री श्यामसुंदर दीपप्रकाश जैन, अहमदाबाद के नाम से साभार प्राप्त हुआ है। जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।



पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा परमागमसार
ग्रंथके ८५० वचनमृत पर भाववाही
प्रवचन, दि. ९-३-१९८५ प्रवचन
क्रमांक-४९४ (विषय : विधि)

यदि आत्माको शान्ति चाहिए तो वह शान्ति तो ऐसी होनी चाहिए कि जो पूर्ण और सादि-अनन्तकाल पर्यन्त रहे। ऐसी शान्ति किसको हो?— कि जिसने अंतर्मुख-वृत्ति और विकल्प द्वारा आत्माकी और झुककर यह निर्णय किया कि औपाधिकभाव हैं सो छोड़ने योग्य हैं व निरपाधिकभाव आदरणीय हैं—द्रव्यश्रुत द्वारा ऐसा निर्णय किया। ऐसा निर्णय करनेवालेको यह भी निश्चित हो जाता है कि देव-गुरु-शास्त्र कैसे हों? ऐसा द्रव्यश्रुतके ज्ञान

वाला यदि निर्विकल्प भावश्रुतज्ञान द्वारा आत्माको दृष्टिगत करे तो वह ऐसी शान्तिके कारणको प्रकट कर, पूर्ण शान्त प्राप्त करता है। ८५०.

परमागमसार। पृष्ठ-१६८, वचनमृत-८५०. १६८ पृष्ठ पर ८५० वचनमृत। मोक्षमार्ग प्रकाशकके दूसरे अध्यायके प्रवचनोंमेंसे है। 'आत्माको शान्ति चाहिये तो वह शान्ति तो ऐसी होनी चाहिये कि जो पूर्ण और सादि-अनन्तकाल पर्यन्त रहे।' जीवका स्वभाव शान्त और सुखमय है। इसलिये सर्व जीवको शान्ति चाहिये। सर्व जीवको सुख चाहिये। एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्तके सर्व प्राणियोंको शान्ति और सुख चाहिये। और वह भी सदाके लिये चाहिये और पूर्ण चाहिये। क्योंकि स्वभाव भी पूर्ण है। शान्त स्वभाव, सुखमय स्वभाव वह स्वभाव है और स्वभावसे पूर्ण भी है। इसलिये जीवको जैसा स्वरूप है वैसा रहनेका भाव, निर्विचाररूपसे, बिना समझे, बिना निर्णय करके सहजपने और स्वाभाविकपने है।

जैसा जीवका स्वभाव है, जैसा जीवका मूल स्वरूप है, वैसी उसको इच्छा होनी, वैसा न हो तो उसे अवस्थामें

वैसी इच्छा होनी, वह स्वाभाविक है। ऐसा एक बोल है—नित्यताका। जीव स्वरूपसे नित्य होनेसे उसे सदाके लिये जहाँ ममत्व करता है, वह पदार्थ, अन्य पदार्थ भी वह नित्य रखना चाहता है। जैसे देहात्मबुद्धि है तो उसे देहको नित्य रखना है। देहका नाश हो, वह उसके अभिप्राय विरुद्ध है। मकान, कुटुम्ब, परिवार जहाँ-जहाँ ममत्व है, वहाँ उसे नित्यता चाहिये। अनित्यता उसे नहीं चाहिये। अनित्यता प्रत्यक्ष दिखाई देती है, अनित्यता, नित्य न हो सके ऐसी एक ठोस हकीकत है उसे वह जानता है कि यह देह अनित्य है और रहनेवाला नहीं है। यह संयोग भी अनित्य हैं और नहीं रहेंगे, तो भी उसकी अनित्यता उसे मंजूर नहीं है। उसका वह स्वीकार नहीं करता है। और स्वीकार नहीं करता है इसलिये जो भी अनित्य प्रसंग बनते हैं, उसके सामने उसे खेद हुए बिना, दुःख हुए बिना रहता नहीं।

जैसे नित्य उसका स्वरूप है, इसलिये सर्वत्र जहाँ-

जहाँ उसका ममत्व है, वहाँ वह नित्यता चाहता है। उसी प्रकार स्वरूप पूर्ण होनेसे उसे जो कुछ चाहिये वह पूर्ण ही चाहिये, कुछ भी अधूरा नहीं चाहिये। जगतकी संपत्ति इच्छता है तो भी पूरी-पूरी इच्छता है। कितनी चाहिये? कि अनन्त चाहिये। किसीको उसकी Limit नहीं है, उतनी चाहिये। Unlimited. क्योंकि स्वरूप पूर्ण है, इसलिये वह जहाँ-जहाँ ममत्व करता है, वहाँ भी उसे कोई मर्यादा नहीं है। अमर्याद स्वरूप है तो उसे सब अमर्याद चाहिये।

उसी प्रकार शान्ति और सुख उसका स्वरूप है तो उसे सुख और शान्ति, कुछ भी करके सुख और शान्ति (चाहिये)। खाकर भी शान्ति चाहिये और भूखे रहकर भी शान्ति चाहिये। बैठकर भी सुख चाहिये और निद्राधीन होकर भी उसे सुख ही चाहिये, चलनेसे भी सुख चाहिये और नहीं चलकर भी उसे सुख ही चाहिये। किसी भी प्रकारसे उसे सुख चाहिये। और वह सुख-शान्तिके लिये अपने कल्पित उपाय उसने अनादिसे किये हैं। सभी जीव अपने सुख-शान्तिकी प्राप्तिके लिये प्रयत्नवान रहते हैं। परन्तु सुख-शान्ति वास्तवमें कहाँ है? कैसे हैं? कैसे प्राप्त किया जाता है? उसके अज्ञानके कारण वह सच्चे उपायको कर नहीं सकता है और जूटे उपाय करके सुख-शान्ति प्राप्त करनेके बजाय दुःख प्राप्त करता है।

उस अनुसार कहते हैं कि, **‘आत्माको शान्ति चाहिये...’** और वह भी उसकी पूर्ण शान्ति होनी चाहिये और सर्व कालके लिये। जबसे प्राप्त हो तबसे अनन्त काल पर्यंत, पूर्ण कालके लिये उसे सुख-शान्ति रहे ऐसी होनी चाहिये। ऐसा होना चाहिये ऐसी उसकी भावना है। **‘ऐसी शान्ति किसको हो?’** अथवा ऐसी शान्ति कैसे हो? **‘कि जिसने अंतर्मुख-वृत्ति और विकल्प द्वारा आत्माकी और झुककर यह निर्णय किया कि औपाधिकभाव हैं सो छोड़ने योग्य हैं व निरूपाधिकभाव आदरणीय हैं-द्रव्यश्रुत द्वारा ऐसा निर्णय किया। ऐसा निर्णय करनेवालेको यह भी निश्चित हो जाता है कि देव-गुरु-शास्त्र कैसे हों?’** यह मुद्दा लिया है चालू अधिकार पर। पहले अधिकारमें

देव-गुरु-शास्त्रका स्वरूप लिया है कि देव-गुरु-शास्त्र कैसे हो? तो वह बात निर्णयमें साथ-साथ ले ली है। मनुष्यगति है इसलिये। तिर्यचगतियों, नर्क गतियों उस प्रकारका देव-गुरु-शास्त्रका निर्णय नहीं है। क्योंकि वहाँ ऐसे देव-गुरु-शास्त्रका निमित्त भी नहीं है।

उसका अर्थ यह हुआ कि जहाँ विषय सामने आये तब निर्णय करनेका उसका स्वयंका धर्म है, निर्णय करनेकी उसकी फ़र्ज है, निर्णय करनेकी उसकी जिम्मेदारी है। जैसे कि छः द्रव्य हैं, तो छः द्रव्यमें धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, काल अप्रयोजनभूत है। अप्रयोजनभूत है और तिर्यचको अथवा नारकीको उसका विकल्प अथवा ज्ञान नहीं होता है, फिर भी सत्शास्त्रमें उसका निरूपण आता है तो उसे संमत करना या नहीं करना, उसपर देव-गुरु-शास्त्रको संमत करना या नहीं करना, उसका आधार रहा है। नहीं तो विषय प्रयोजनभूत नहीं है। धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश, काल यह विषय प्रयोजनभूत नहीं है। उसके साथ जीवके परिणाममें कोई शुद्धि-अशुद्धिका कोई प्रकार उत्पन्न नहीं होता है कि धर्मास्तिकायके लक्ष्यसे उसे विभाव हो, या उसे आकाशके लक्ष्यसे विभाव हो, ऐसा तो कुछ बनता नहीं। जो कुछ विभावका निमित्त है वह तो पुद्गल पर्यायें हैं। वह भी स्थूल इन्द्रियज्ञान गोचर हो ऐसी।

परन्तु सत्शास्त्रोंमें उन छः द्रव्यका निरूपण है और वह संमत न करे, पूर्व संस्कारवश उसका ज्ञान, उसकी बुद्धि संमत न करे तो वह विषय अप्रयोजनभूत होने पर भी सत्शास्त्रको वह संमत नहीं करता है, सत्शास्त्रको कहनेवाले ऐसे देव और गुरुको वह संमत नहीं करता है और उस तरहसे प्रयोजनमें हानि उत्पन्न होती है।

अभी यह विषय इस प्रकारसे चर्चामें आया कि यह प्रतिमाका प्रकरण चला। बाहरका व्यवहारका विषय है। विधि-विधानका विषय तो स्पष्ट बाह्य व्यवहारका है और वह तो अप्रयोजनभूत है या प्रयोजनभूत है? तो उस विषयमें ज्ञानियोंने जो कहा और ज्ञानी जो कहे उसे संमत करना, वह प्रयोजनभूत है। इस प्रकार उसके

स्वीकार-अस्वीकारका वहाँ सम्बन्ध रखता है। ऐसा विषय बनता है। इसलिये वह विषय तात्त्विक दृष्टिसे सीधा प्रयोजनभूत न हो, तो भी उसे निरूपित करनेवाले कौन है, उसे संमत-असंमत करने सम्बन्धित जहाँ प्रकार उत्पन्न होता है, तब जीवको उसका निर्णय करना पड़ता है। और यदि जीव उसका निर्णय न करे तो वह कहनेवालेको असंमत करता है। ऐसा प्रकार उत्पन्न होता है।

अतः यहाँ ऐसा कहते हैं, 'जिसने अंतर्मुख-वृत्ति और विकल्प द्वारा...' द्रव्यश्रुत द्वारा निर्णय करे, द्रव्य यानी सत्श्रुत द्वारा। सत्श्रुतमें शुद्धात्माका स्वरूप जिस प्रकारसे निरूपण किया है, जैसा निरूपण किया है, ऐसा निर्णय करे और वह निर्णय करनेसे पर्यायमें जो प्रयोजन है कि औपाधिकभाव छोड़ने योग्य है, जितने-जितने औपाधिकभावके प्रकार हैं, वह समस्त विभाविक प्रकार है। और विभावसे, स्वभाव निरूपाधिकभावरूप-निरूपाधिकस्वरूप है। उस प्रकारसे जो अपने हित-अहित अथवा शान्ति-अशान्तिके भावका निर्णय करता है, ऐसा निर्णय करनेवालेको देव-गुरु-शास्त्रका निर्णय भी अवश्य होना योग्य है। मनुष्यगतिमें वह प्रयोजनभूत हो जाता है।

लोग ऐसा कहे कि स्वयंको तो अपने स्वभाव और विभावके साथ प्रयोजन है। देव-गुरु-शास्त्रके स्वरूपमें कदाचित् भूल रह जाय तो वह तो क्षयोपशमकी भूल गिननी चाहिये। क्षयोपशमकी भूल नहीं, यहाँ देव-गुरु-शास्त्रका विषय सामने आया है, तब देव-गुरु-शास्त्रका स्वरूप जगतमें अनेक प्रकारसे प्रसिद्ध है, उसमेंसे वीतरागी देव, वीतरागी गुरु और वीतरागी शास्त्र कैसे हों, उसका यथार्थ निर्णय संमत-असंमत करनेकी दृष्टिसे उसके लिये प्रयोजनभूत है। वहाँ प्रयोजनके साथ उसका सम्बन्ध जुड़ता है। अपने प्रयोजनके साथ।

जीस जीवको पूर्वमें विपरीत संस्कारसे विपर्यास बुद्धि चली आ रही है, उस बुद्धिके विपर्यासमें सच्चे देव, गुरु, शास्त्रको संमत नहीं करनेके बजाय, फेरफार युक्त अन्यथा देव-गुरु-शास्त्रको संमत करे तो वहाँ उसे प्रयोजनमें हानि पहुँचती है। जो देव-गुरु-शास्त्रका यथार्थ निर्णय न कर

सके, वह द्रव्यश्रुत द्वारा विभाव और स्वभावका यथार्थ निर्णय नहीं कर सकता। और विभाव एवं स्वभावका निर्णय न कर सके उसे विभावकी उपाधि छोड़ने योग्य है, निरूपाधिक स्वभाव आदरणीय है, आदरने योग्य है, वह विषय भी उसे किसी भी प्रकारसे अंगीकार नहीं हो सकता अथवा समझमें, निर्णयमें ही नहीं आता। अनुभव करना दूसरा विषय है, निर्णयमें ही उसे नहीं आता। निर्णय ही न हो सके, ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाय।

मुमुक्षु :- उसे अपना प्रयोजन ही नक्की नहीं हुआ है।

समाधान :- वैसे तो क्या है कि सब जीवको सुखका प्रयोजन है। सब जीवको सुख चाहिये, लेकिन उसका सच्चा मालूम नहीं है, इसलिये जूठे उपाय द्वारा जगतके सब प्राणी सुखके पीछे भागते हैं, सुख प्राप्त करनेके लिये पीछे भागते हैं। और सुख प्राप्त करनेके बदले दुःख प्राप्त करते हैं। जगतके जीवोंकी यह स्थिति है। इसलिये जाने-अनजाने भी प्रयोजन सुखका है। अब, वह जो प्रयोजन सुखका है, वह प्रयोजन हांसिल करनेके लिये उसे देव-गुरु-शास्त्रका निर्णय होना चाहिये, सत्श्रुत द्वारा उसे औपाधिकभाव और निरूपाधिकभावका भी उसे निर्णय करना चाहिये। क्योंकि प्रयोजन उपाधिसे दुःख है और निरूपाधिसे सुख है, उसे प्रयोजनका सीधा सम्बन्ध वहाँ है।

देव-गुरु-शास्त्रका विषय विशेष लिया है। क्योंकि वहाँ मोक्षमार्ग प्रकाशकमें यह अधिकार चल रहा है कि देव-गुरु-शास्त्र कैसे होने चाहिये, उसका निर्णय प्रथम करना चाहिये। कोई तर्क करे कि, तिर्यच कहाँ देव-गुरु-शास्त्रका निर्णय करता है? तो भी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानको प्राप्त होता है। सातवीं नर्कका नारकी कहाँ निर्णय करता है? वहाँ यह विषय सामने नहीं है। लेकिन यहाँ जब विषय सामने आता है तब उसे प्रयोजनके साथ सम्बन्ध जुड़ता है, छः द्रव्यकी भाँति। क्योंकि कहनेवालेकी प्रमाणिकता और कहनेवालेकी निर्दोषताका निर्णय करने पर उसमें तत्त्व निर्णयका प्रश्न उपस्थित होता है।

जैसे देवतत्त्व है। तो जो जीव अर्हन्तको द्रव्यसे, गुणसे और पर्यायसे, वह आत्माको जाने और उसका मोक्ष क्षय होता है। प्रवचनसार-८० गाथा। इस तरह देवके स्वरूपके साथ आत्मस्वरूपका सम्बन्ध वहाँ उत्पन्न होता है। ऐसे देव हों तो मूलमें आत्मा ऐसा हो तो देव ऐसे हों। जो जीव देवको दोष सहित स्वीकार करते हैं, सदोष स्वरूप देवका स्वीकार करते हैं, वह आत्माको निर्दोष स्वरूप स्वीकार करे, ऐसा कभी नहीं बन सकता। उसे निज शुद्धात्म स्वरूपका निर्णय हो, श्रद्धामें स्वीकार हो, ऐसा नहीं बनता। इस तरह प्रयोजनके साथ सम्बन्ध होता है।

फिरसे, 'पूर्ण और सादि-अनंतकाल...' पूर्ण शान्ति जीवको चाहिये तो ऐसी शान्ति किसे होती है? कि जिसने आत्माके उघाड़ और विकल्प द्वारा अर्थात् वर्तमानमें ज्ञान और चारित्रगुण जो परिणमता है, उसमें उघाड़ है। उघाड़ और विकल्प दो बोल लिये हैं। उघाड़ यानी वर्तमान ज्ञानका क्षयोपशम है कि जो ज्ञान वर्तमानमें कितनी शक्ति व्यक्त है? ज्ञानकी कार्य करनेकी शक्ति कितनी व्यक्त है? उसे उघाड़ कहते हैं और विकल्प यानी वर्तमान रागकी पर्याय। जो विचारदशामें एकसाथ होते हैं।

अकेला ज्ञान अज्ञानदशामें काम नहीं करता। वहाँ विकल्परूप राग मिश्रित होकर दोनों एकसाथ मिलकर कार्य करते हैं, किसी भी पदार्थका निर्णय करनेमें। जिसे हम विचार कहते हैं। विचारमें दो मुख्य गुणकी पर्याय हैं। एक ज्ञानगुणकी और एक चारित्रगुणका विकल्प यानी राग। वहाँ क्या है कि तीव्र राग हो और विकल्प या राग कि जिसमें कषाय है, उसमें तीव्र कषाय हो तो भी तत्त्वनिर्णय नहीं होता। और उघाड़रूप ज्ञान उतना बन्द हो गया हो कि जहाँ मन न हो, जानपनारूप ज्ञान उतना ढक गया हो, उतना आवरित हो कि जिसे मनका उघाड़ नहीं होता, मन पर्यंत जिसकी पहुँच नहीं हो अर्थात् असंज्ञी हो, तो वह निर्णय नहीं कर सकता। उघाड़रूप ज्ञान मनसहित होना चाहिये और रागरूप विकल्प तीव्र कषायरूप-पापरूप नहीं होना चाहिये। तत्त्वनिर्णयके कालमें

इतनी स्थिति अनिवार्य है। पापरूप विकल्पमें अर्थात् अशुभउपयोगमें चलता-परिणमता जीव, तत्त्वनिर्णय नहीं कर सकता। तत्त्वनिर्णय करनेके कालमें उसे शुभोपयोगमें आना पड़ता है अथवा कषायकी मन्दताके कालमें ही उसका राग और विकल्प तत्त्वनिर्णयका काम करे, तीव्रताके कालमें नहीं कर सकता। इतना इसका नियम है। नीचेकी भूमिका इतनी तो होनी चाहिये।

इसलिये कहते हैं कि 'जिसने अंतर्मुख-वृत्ति और विकल्प-द्वारा आत्माकी ओर झुककर...' राग ओर अनादिका झुकाव है, पर ओर अनादिका झुकाव है, उस ओर झुककर निर्णय नहीं करना, ऐसा कहते हैं। निर्णय करनेमें आत्माकी ओर झुककर निर्णय करना। आत्माका स्वाभाविक लक्षण ज्ञान है। इस ज्ञानके आधारसे ज्ञानमय आत्माका निर्णय करना। झुकाव आत्माकी ओर होना चाहिये। झुकाव यानी मुख्यता।

हम झुकाव सम्बन्धित विचार करें तो आदमी दो बात जानता हो, बहुत बार क्या बनता है कि यह सत्य है और यह असत्य है, लेकिन असत्यका झुकाव छोड़ नहीं सकता हो औ सत्यकी झुकता नहीं हो, पक्षके कारण। ऐसा बनता है कि नहीं? तो उसका अर्थ क्या हुआ? कि उसकी उसे मुख्यता है।

इस प्रकार ज्ञान और राग दोनों होनेके बावजूद जब तक रागकी मुख्यता है, जो जीवको अनादिसे है, तब तक जीवका झुकाव राग प्रत्ययी है। और जब तक जीवका झुकाव राग प्रत्ययी है, तब तक उसका ज्ञान साथ-साथ विचार दशामें काम करता होने पर भी ज्ञानस्वभावी आत्माका निर्णय नहीं होता। भ्रमसे ऐसा लगता जरूर है कि शास्त्र पढ़ते हैं, बुद्धिशक्ति है, विचारशक्ति है, शास्त्र पढ़ते हैं अथवा प्रत्यक्ष ज्ञानीको सुनते हैं कि आत्मा ऐसा है और वह हमारे विचारसे और कषायकी मन्दता, उघाड़ और विकल्प दोनोंमें हमें स्वीकृत होता है कि आत्मा ऐसा ही है। तो भी अन्दरमें जब तक राग पर झुकाव है, तब तक वह निर्णय यथार्थ अथवा सच्चा निर्णय नहीं है। संक्षिप्त वचनमें भी एक बात बहुत मर्मकी कही है

कि 'आत्माकी ओर झुककर...' राग रहित जो ज्ञानस्वभाव है, वह आत्मा है। उस ओर झुककर। ज्ञानकी मुख्यतामें ज्ञानस्वभावी आत्माका निर्णय हो और रागकी मुख्यता न रहे, ऐसा झुकाव हो, तब जिसने ऐसा निर्णय किया, इस तरह निर्णय किया। नहीं तो निर्णय तो तत्त्वज्ञानके क्षेत्रमें प्रवेश करते हैं और तत्त्वज्ञानका अभ्यास तो करते हैं वह सब आत्माका निर्णय तो करते ही हैं कि द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव स्वचतुष्यसे आत्मा ऐसा है। द्रव्य-गुण-पर्याय, उत्पाद-व्यय-ध्रुव, गुण-गुणी भेद आदिका ज्ञान होता है। प्रमाण, नय, निक्षेपसे उसे जाननेकी जो पद्धति हो उससे जानता है। ऐसा जाने और वह शास्त्रसे अनुकूल जाने, शास्त्र कहे उससे विरुद्ध जाने ऐसा तो नहीं, उसका अर्थघटन बराबर शास्त्र कहते हैं वैसा हो, तो भी निर्णय सच्चा कब? कि रागकी ओर झुकना छूटे और स्वभावकी ओर झुके, झुकना यानी मुख्यता, रागकी मुख्यता छूटे और स्वभावकी मुख्यतामें आकर-ज्ञानकी मुख्यतामें आकर ज्ञानके आधारसे, ज्ञानक्रियाके आधारसे, ज्ञानलक्षणके आधारसे ज्ञानस्वभावका निर्णय हो तब वह निर्णय बराबर है। ऐसा निर्णय किया हो तो उसे औपाधिकभाव और निरूपाधिक स्वभावका निर्णय हो। यह निर्णय हो उसमें विवेक भी हो कि यह उपाधिभाव छोड़ने योग्य है और निरूपाधिकभाव, ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव एक ही आदरणीय है।

अथवा उसे निज ज्ञानस्वभाव ज्ञाता-दृष्टापने ज्ञात होता है, निश्चित होता है, दिखता है और वह जानता है कि इस ज्ञाता-दृष्टा स्वभावमें-ज्ञाता-दृष्टापनेमें जितना रागका औपाधिकभाव कर्तव्यसे जो उत्पन्न होता है, वही दुःखका कारण है, वहीं आकुलता उत्पन्न होती है। ज्ञान कि जो रागको करता नहीं, कर सकता नहीं।

समयसारकी ९२से ९६ गाथा। ९२से लेकर पाँच गाथा उस विषय पर है। विषय ९१से शुरू किया है। वह पाँच-छः गाथामें वह विषय लिया कि जैसे ज्ञान पुद्गलके शीत-उष्ण पर्यायको कर नहीं सकता, ज्ञान जड़ रजकणके शीतपनेको अथवा रजकणकी उष्णताको ज्ञान

नहीं कर सकता, परन्तु जान सकता है कि अभी सर्दी है या अभी गर्मी है। परन्तु सर्दी-गर्मीको ज्ञान करता नहीं, जानता होने पर भी। वैसे ज्ञान रागको जान सकता है, परन्तु ज्ञान रागको कर नहीं सकता। ऐसा ही ज्ञानका स्वभाव है। ऐसा जब उसे अपना ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव समझमें आता है, तब रागका कर्तृत्व ही मूलमें मिथ्यात्व सहितकी उपाधि है, वह उसे समझमें आता है।

ज्ञानमें, 'राग सो मैं' इस प्रकार रागमें निज सत्ताको पकड़ना और रागका कर्तृत्व होना, दो कार्य एकसाथ हो जाते हैं। जब निज स्वभावको जीव चूकता है तब 'राग सो मैं', इस प्रकार रागमें निज सत्ताका अनुभव करता है-मिथ्या अनुभूति और रागको मैं करता हूँ, ऐसा भी मिथ्या अनुभव करता है। लेकिन ज्ञान रागको कर नहीं सकता और ज्ञानमें रागकी सत्ता भी नहीं है। इस प्रकार आत्माकी ओर झुककर निर्णय करे कि औपाधिकभाव हैं सो छोड़ने योग्य हैं। कषायके एक कणको-उपाधिके एक कणको भी वह करने योग्य, अंगीकार करने योग्य नहीं समझता। समस्त दुःख, दुःखमात्र, जैसे मिलनाता है-विष्टा है वह थोड़ी भी शरीर पर रखनेको कोई नहीं चाहता। भले ही शरीर थोड़ा खराब लगे, कोई बात नहीं, ऐसा नहीं चलता। तो मुख पर कोई रखे? जीभ पर कोई रखे? तो यह तो स्वादका विषय है।

जैसे जीभ द्वारा स्वाद लिया जाता है, वैसे ज्ञान द्वारा आस्वादन होता है। कषायकी मलिनताका आस्वादन होता है। जिसे वह मलिनता समझमें आयी है, अशुचित्व जिसे समझमें आया है, वह उसे छोड़ने योग्य ही समझता है, उसे रखने योग्य समझे, किसी भी प्रकारसे रखने योग्य समझे, कोई भी अपेक्षासे रखने योग्य समझे, उसे निरूपाधिक ज्ञानस्वभाव, पवित्र ज्ञानस्वभाव, शुचिरूप ज्ञानस्वभाव समझमें आया है, यह बात नहीं रहती।

मुमुक्षु :- राग करता तो आत्मा है।

समाधान :- राग आत्माका मलिन परिणामन है।

मुमुक्षु :- करनेवाला तो स्वयं ही है ना?

समाधान :- हाँ, एक न्यायसे वह करनेवाला होने

पर भी जब उसे मिटाना है, तब उसे उसके कर्तृत्वमेंसे हटना पड़ता है। रागका कर्तृत्व और रागका परिणमन होकर कर्ता होता है, परिणमता है इसलिये कर्ता है, और रागको कर्तृत्व सहित कर्ता है, इन दोनोंके बीच फ़र्क़ है।

जैसे ज्ञानीको राग होता है। ज्ञानदशा होनेके बाद भी राग तो होता है। तो वह एक न्यायसे समझता है कि रागरूप परिणमता जीव स्वयं और इसलिये वह उस कार्यका कर्ता है। ... शुद्धनयका विषयभूत जो आत्मा है, उसके द्वारा स्वयं शुद्ध है, ऐसा भी जानते हैं। क्योंकि शुद्धि-अशुद्धिका ज्ञान सापेक्ष है। शुद्ध और अशुद्धका ज्ञान एकसाथ होता है। उपाधि-निरूपाधिका एकसाथ अपेक्षित ज्ञान होता है। कभी एक विषयका ज्ञान नहीं होता। दो विषयका साथमें (ज्ञान होता है)। उसे Comparative knowledge कहते हैं। तो जो अशुद्धिका ज्ञान है, उसमें जीव स्वयं परिणमता है, फिर भी ज्ञानी कर्ता होकर वहाँ नहीं परिणमते हैं।

मुमुक्षु :- ..

समाधान :- हाँ, मैंपना जिसने ज्ञानमें स्थापित किया, जिसने मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, ऐसा स्थापित किया, उसे ऐसा अनुभव होता है कि आत्मा तो ज्ञानक्रियारूप परिणमता है, ज्ञाता-दृष्टाकी क्रियारूप परिणमता है। उसकी अवस्थामें राग तो परिणमता है। और साथमें ही है, ज्ञानके साथ ही परिणमता है। तो उसमें वे अपनी सत्ताका अस्वीकार करते हैं।

जो अपनी सत्ता ज्ञानमें स्वीकारते हैं, वे अपनी सत्ता रागमें स्वीकारते नहीं। रागको विभाविक परिणमन जानते हैं, एक रोग जानते हैं और वह रोग उसकी सत्ताके अस्वीकारसे और कर्तृत्वके अस्वीकारसे उसे टालते हैं। इस प्रकार टालनेकी रीत भी वे जानते हैं। क्योंकि टालने योग्य जानते हैं न? कि यह टालने योग्य है। रोग टालने योग्य है, तो उसकी विधि भी वे जानते हैं। उसकी अवगणना करनेसे वह जायेगा।

मुमुक्षु :- राग करता है या रागको जानता है?

समाधान :- स्वभावकी मुख्यतासे कहें तो जानता है। परन्तु द्रव्यानुयोगका स्पष्ट विषय लेना हो तो वहाँ जीव स्वयं ही रागरूप परिणमित हुआ है। कोई दूसरा नहीं। परन्तु उसकी अवगणना करनी, उसे टालनेके लिये उसकी अवगणना करनी। वह भी स्वमानी है। जैसे स्वमानी आदमीकी अवगणना करो तो वह तुम्हारे घर नहीं आयेगा। उसे मान-सम्मान दो तो ही वह आयेगा, उसे उचित सत्कार मिले तो ही आयेगा। अन्यथा नहीं आयेगा। क्योंकि अपनी अवगणना हो रही है, वहाँ कोई गिनता नहीं।

वैसे राग भी ऐसी चीज है, यदि उसकी अवगणना करो तो वह टल जायगा, टल जायगा। और यदि उसे आदर दोगे तो उसे निकालना बहुत मुश्किल है। यह उसकी स्थिति है। इसलिये भले आत्माका चारित्रगुण यानी आत्मा रागांशरूप परिणमता होने पर भी पूरा आत्मा ऐसा नहीं है। एक अंश रागांशरूप आत्मा परिणमता होने पर भी पूरा आत्मा नहीं है, पूरा आत्मा अखण्ड आत्मा तो ज्ञानमय है, ऐसा वह जानता है। और एक अंशमें रोग-विभाव है, उसकी अवगणना करके टालने योग्य है। दुर्लक्ष करके टालने योग्य है, उसका आदर करने योग्य नहीं है। औपाधिकभाव आदरने योग्य नहीं है, निरूपाधिकभाव है वह आदरणीय है, ऐसा निर्णय करके वैसा झुकाव करे, वैसे परिणमन करे, तो राग टले और वीतरागता वृद्धिगत हो और परिपूर्ण वीतरागता हो। यह उसकी रीत है।

निर्णय करनेके लिये सब विचार करे। परन्तु झुकना कहाँ, वह दूसरी बात है। एक बात विचारसे निश्चित की और झुकाव विपरीत रखे तो उसने निर्णय क्या किया? सत्य और असत्य दोनोंको जाना कि यह असत्य है और यह सत्य है। फिर असत्यके प्रति झुकाव रहा तो उसने जाना क्या? उसने कुछ नहीं जाना।

मुमुक्षु :- जानता है फिर भी होता है।

समाधान :- उसका झुकाव नहीं बदलता। उसने ज्ञान और राग, दोनों जाने। आत्मा ज्ञानस्वभावी है, मैंपना ज्ञानमें अनुभवमें आ रहा है, जिस प्रकार ज्ञानक्रिया होती

हुयी मालूम पड़ती है, उस प्रकारसे क्रोधादि क्रिया होती हुयी मालूम नहीं पड़ती। अर्थात् यदि ज्ञानके आधारसे-ज्ञानक्रियाके आधारसे निज सत्ताका ग्रहण हो तो रागादि क्रियामें निज सत्ताका अनुभव नहीं होगा। जानेगा कि आत्मा स्वयं रागांशरूप परिणमता है, तो भी अपनी सत्ताका अनुभव नहीं होगा। वह परतत्त्व है, ऐसा जाननेमें आयेगा। और जिसे रागमें मैपना अनुभवमें आता है अर्थात् रागक्रियामें-क्रोधादि क्रियामें अपनी सत्ताका अनुभव होता है, वह ज्ञान हो रहा है ऐसा जानता है तो भी ज्ञानमें मैपना नहीं कर सकता।

यहाँ विपरीत स्थितिका विचार करें तो अनादिसे जीव रागमें मैपने, रागमें अपनी सत्ताका स्वीकार करके परिणमता है। उसे क्या मालूम नहीं है कि ज्ञान हो रहा है? जाननरूप ज्ञान हो रहा है, उसे मालूम है। फिर भी ज्ञानमें उसे अहंपना नहीं होता। नियम ऐसा है कि दोमेंसे एक स्थान पर निज सत्ताको स्थापित कर सकता है। दो विरुद्ध भावमें वह सत्ताको स्थापित नहीं कर सकता, क्योंकि दो विरुद्ध भावमें झुकना नहीं हो सकता। जहाँ सत्ताको स्थापित करता है, वहाँ उसका झुकना होता है। अब, वह रागादि विभावमें यदि अपनी सत्ता स्थापित करता है तो उसका झुकाव राग-ओर रहता है और उसे राग कभी नहीं मिटता। भले अनन्त काल जाय तो भी नहीं मिटेगा।

मुमुक्षु :- राग है तो उसीके चारित्रगुणकी पर्याय।

पूज्य भाईश्री :- उसके चारित्रगुणकी पर्याय होने पर भी उसका प्रयोजन क्या है? राग करनेका है? दुःख करनेका है? प्रयोजन तो उसे शान्ति चाहिये। किस जीवको अशान्ति चाहिये? जीवको शान्ति चाहिये। तो भले ही दोनों उसीका परिणमन होने पर भी उसे प्रयोजन सिद्ध करना है या नहीं? यह सवाल है। राग मेरे चारित्रगुणकी पर्यायमें होता है, इसलिये मैं मेरा क्यों न मानूँ? ऐसा करके पक्कड़ करनी है?

यहाँ तो ऐसा कहते हैं, तेरे दो गुण परिणमते हैं। जानपनारूप ज्ञान और विकल्परूप चारित्र। दोनों गुणका

परिणमन है। तुझे कहाँ झुकना है? और तुझे क्या चाहिये? यदि शान्ति चाहिये तो ज्ञानी ऐसा कहते हैं कि तू ज्ञानके प्रति झुक। यदि तुझे शान्ति नहीं चाहिये तो अनादिसे राग प्रति तेरा झुकाव है, तुझे नया कुछ नहीं करना है, वह तो तेरा चल ही रहा है, कुछ सीखनेकी जरूरत नहीं है। अशान्तिमें रह। लेकिन अशान्ति तुझे कठिन पड़ेगी। तेरा सत्य स्वरूप तो ज्ञानमय है, रागमय तेरा सत्य स्वरूप नहीं है, फिर भी तू असत्यकी ओर झुकता है तो तुझे वह कठिन पड़ेगा। क्योंकि तेरी त्रसकी दशा है वह मर्यादित है। अभी भले ही वह दुःख तुझे तीव्र नहीं लगता हो, परन्तु ऐसे तीव्र दुःखमें तू चला जायेगा कि फिर अनन्त काल पर्यंत कोई ठिकाना नहीं रहेगा। यह परिस्थिति है। दुःख चाहिये? नहीं, दुःख नहीं चाहिये। सुख चाहिये? तो तेरा झुकाव आत्माकी ओर, आत्माकी ओर-ज्ञानकी ओर तू झुक।

‘औपाधिकभाव है सो छोड़ने योग्य हैं व निरूपाधिकभाव आदरणीय हैं-द्रव्यश्रुत द्वारा...’

अर्थात् सत्पुरुषोंके वचनको द्रव्यश्रुत कहते हैं। आचार्योंके, ज्ञानियोंके, केवलियोंके, सत्पुरुषोंके वचनको द्रव्यश्रुत कहनेमें आता है। उस द्रव्यश्रुत द्वारा तू निर्णय कर। उसके द्वारा निर्णय कर। क्योंकि वह अनुभवी पुरुषोंके अनुभवपूर्ण वचन हैं। और इस तरह निर्णय करने पर ऐसा निर्णय करनेवालेको देव-गुरु-शास्त्र कैसे हो, उसका भी निर्णय होता है अथवा उसे ऐसा निर्णय होता है। ऐसा निर्णय होता है अथवा ऐसा निर्णय उसे होता है।

‘ऐसा द्रव्यश्रुतके ज्ञानवाला यदि निर्विकल्प-भावश्रुतज्ञान द्वारा आत्माको दृष्टिगत करे तो वह ऐसी शान्तिके कारणको प्रकट कर, पूर्ण शान्ति प्राप्त करता है।’ वैसे तो क्या है कि जीवको कषायकी तीव्रताका और मन्दताका अनुभव है। परन्तु कषाय रहितताका अनुभव कभी नहीं हुआ है। एक बार भी यदि उसे वह स्वाद चखनेको मिले, जिसे यहाँ निर्विकल्प भावश्रुतज्ञान कहा है, जब आत्माको निर्विकल्प भावश्रुतज्ञान प्रगट होता है, तब उसे आत्माकी शान्ति साथ-साथ

प्रगट होती है। शान्तिका आस्वाद आता है। और उस शान्तिका आस्वाद करे तब उसे एक ऐसी भावना उत्पन्न होती है, वह ऐसी भावना है कि अबसे लेकर अनन्त कालावली ऐसे आत्मतत्त्वके वेदनमें ही बहो। आता है? यह नियमसारका वचन है। भावनाका ग्रन्थ है न।

नियमसार है, वह कुन्दकुन्दाचार्यदेवको जो स्वरूपकी उत्कृष्ट भावना हुयी, उसमें रचना हुयी वह नियमसार नामक ग्रन्थ है। उन्होंने वह बात की है कि अबसे लेकर अनन्त कालावली आत्मतत्त्वके वेदनमें बहो। ऐसी निराकुल शान्ति, ऐसा निराकुल शान्त स्वभाव, वह ऐसी चमत्कारिक शान्ति है कि जिसके पास एक सूक्ष्मसे सूक्ष्म अल्प कषायकी मन्दताका विकल्प भी उसे दाह उत्पन्न करता है। जैसे मछली पानीके बाहर निकले और छटपटाये, वैसे। मछली पानीके बाहर उछलकर किनारे पर गिरे और रेत ठण्डी हो तो भी उसे सुहाता नहीं। वहाँ पड़ी नहीं रहती कि चलो, यह ठण्डी रेत है, यहाँ सोते हैं थोड़ी देर। वहाँ छटपटाती है। तो गर्म रेतमें उसकी क्या हालत होगी? क्योंकि उसका स्वभाव इतना शीत है कि वह पानीका जीव पानीमें ही रह सके, पानीके बाहर नहीं रह सकता।

वैसे जिसने आत्माकी शान्तिका वेदन किया है, वह लाख बात होने पर भी कषायके एक कणको भी स्वीकार करने खड़ा नहीं रहता, स्वीकार नहीं कर सकता। लाख बात पर भी नहीं, किसी बात पर नहीं। उसे तो अबसे लेकर अनन्त कालावली आत्मतत्त्वके वेदनमें बहो, यही उसकी भावना होती है, उसकी दूसरी भावना नहीं होती।

मुमुक्षु :- स्वाध्याय मन्दिरके बाहर है।

समाधान :- वह नियमसारमेंसे लिया हुआ विषय है।

कहते हैं कि, 'ऐसा द्रव्यश्रुतके ज्ञान वाला...' पहले जो द्रव्यश्रुतसे निर्णय करता है, वह जीव 'निर्विकल्प श्रावश्रुतज्ञान द्वारा...' अब भावश्रुतज्ञान लेना है तो वह विकल्पवाला नहीं। द्रव्यश्रुत है वह तो शास्त्र है और आत्माको द्रव्यश्रुतके निमित्तसे जो ज्ञान हुआ, उसे भावश्रुत कहना कि नहीं? वह भावश्रुत नहीं है। जो ज्ञान द्रव्यश्रुतके

आश्रयसे, द्रव्यश्रुतके निमित्तसे अभी प्रवर्तता है, वह ज्ञान भी अभी भावश्रुत नहीं है। है वह ज्ञानका भाव, पुद्गल नहीं है, फिर भी वह ज्ञान स्वरूपाश्रित नहीं है और शास्त्रके आश्रित है, तब तक भावश्रुत नहीं है। क्योंकि विकल्पात्मक है। शास्त्रके निमित्तसे प्रवर्तता ज्ञान विकल्पात्मक है, विकल्प सहित परिणमता है। वह ज्ञान भी भावश्रुतज्ञान नहीं है।

ऐसा बतानेके लिये यहाँ गुरुदेवने यह शब्दप्रयोग किया है कि 'निर्विकल्प भावश्रुतज्ञान द्वारा आत्माको दृष्टिगत करे...' जब ज्ञान अंतर्मुख होकर निर्विकल्प आत्मतत्त्वमें एकाकार हो, तदाकार हो और उस तरहसे स्वरूपका ग्रहण हो, तब उसने निर्विकल्प भावश्रुतज्ञान द्वारा आत्माको दृष्टिगत किया ऐसा कहनेमें आता है। ग्रहण किया ऐसा कहो कि दृष्टिगत किया ऐसा कहो। दृष्टिगत करना अथवा ग्रहण करना।

मुमुक्षु :- निर्विकल्पमें...

पूज्य भाईश्री :- निर्विकल्प भी एक भाव है। जैसे सविकल्प भी एक भाव है, राग भी एक भाव है, वैसे ज्ञान भी भाव है और निर्विकल्प ज्ञान भी एक भाव है। आत्माका भाव है, प्रगट भाव है। भाव यानी विकल्प, ऐसा नहीं। जितने भाव उतने विकल्प और जितने विकल्प उतने भाव, ऐसा नहीं। विकल्प भले ही एक भाव है, तो ज्ञान भी एक भाव है, राग भी एक भाव है और ज्ञान भी एक भाव है। ज्ञानमें सविकल्पात्मक यानी ज्ञेयाकार ज्ञान भी एक भाव है और आत्मा जो निर्विकल्प अभेद तत्त्व है, उस आकाररूप ज्ञानका होना वह भी एक भाव है।

मुमुक्षु :- ..

पूज्य भाईश्री :- भाव अर्थात् भाव। परन्तु यहाँ निर्विकल्प भाव लेना है। भाव यान आत्माका भाव। फिर रागको भी भाव कहते हैं, ज्ञानको भी भाव कहते हैं, परिणाममात्रको भाव कहते हैं, जीवके समस्त परिणामको भाव कह सकते हैं। लेकिन जिसे भावश्रुत कहें, वह भावश्रुत आत्मस्वभावके आश्रयसे जो ज्ञान प्रगट हुआ

उसे भावश्रुतज्ञान कहते हैं। जो श्रुतज्ञान स्वभावके आश्रयसे प्रगट हो, वह भावश्रुतज्ञान है। ऐसे आत्मामें ही द्रव्यश्रुत और भावश्रुत लागू पड़ता है।

द्रव्यश्रुतके आधारसे उत्पन्न हुआ जो विकल्पात्मक ज्ञान है, वह द्रव्यश्रुत है। बाहरमें शास्त्र द्रव्यश्रुत है, इसका विकल्पात्मक ज्ञान भी द्रव्यश्रुत है। और आत्मामें जो ज्ञान अंतर्मुख झुककर निर्विकल्प हुआ वह भावश्रुतज्ञान है। जिसमें आत्माका रस लबालब भरा है, ऐसा जो ज्ञान आत्माके साथ अभेद हो गया, आत्मा तो निर्विकल्प था, आत्मा तो अनादिसे निर्विकल्प था, ज्ञान भी निर्विकल्प हो गया। उसे निर्विकल्प भावश्रुत ज्ञान कहनेमें आता है। जिसे शुद्धोपयोगमें निर्विकल्प दशा कही है, वह भावश्रुतज्ञानकी निर्विकल्प दशा है, शुद्धोपयोगमें जो प्रथम सम्यग्दर्शनके कालमें प्रगट होता है।

ऐसे 'भावश्रुतज्ञान द्वारा आत्माको दृष्टिगत करे तो वह ऐसी शान्तिके कारणको प्रकट कर,...' वहाँ शान्ति प्रगट हुयी। भावश्रुतज्ञान कारण है और शान्ति प्रगट होनी वह कार्य है। यह परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध लेकर कार्य-कारण उतारा है। आत्माको निर्विकल्प भावश्रुतज्ञान प्रगट होना वह कारण है और आत्माकी निर्विकल्प शान्ति प्रगट होनी वह उसका कार्य है। ऐसा कारण प्रगट करके। भावश्रुतज्ञान प्रगट करके स्वयं शान्ति प्रगट करे और वह शान्ति पूर्ण शान्ति प्राप्त करता है, इस विधिसे। यह एक ही शान्तिका उपाय है, बाकी जगतमें कहीं शान्ति नहीं है और कहीं सुख नहीं है। कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि चारों ओर अशान्ति और दुःख, दुःख और दुःख ही है। कहीं शान्ति और सुख नहीं है।

मुमुक्षु :- प्रयोग करके (नक्की करना)।

पूज्य भाईश्री :- ऐसा ही विषय है। बाहरमें लोग कहते हैं कि हम तो सुखी हैं। पानी माँगते हैं तो दूध मिलता है। हमें सब अनुकूलता है। ज्ञानी ऐसा कहते हैं, गुरुदेव कहते थे कि भाई! बापू! तुझे सन्निपात हुआ है। तू तो बहुत दुःखमें चला जायेगा। ऐसा है भाई!

कि इस मनुष्य-जन्ममें जीव आता है, हम लोग मनुष्यगतिमें हैं इसलिये अपना ही विचार करते हैं, पूर्वकर्मके योग्यसे जो कुछ बाहरमें संयोग पूर्व पुण्ययोगसे अनुकूलताके प्राप्त होते हैं, तो वह है तो पूर्वकर्मका कारण। परन्तु यह जीव उसमें इतना रस ले लेता है, ममत्व करके, कि उसके पीछे वह पूरा आयुष्य खत्म करता है, पूरा आयुष्य खलास कर देता है।

दो प्रकारसे भूल होती है। एक-संगोमें ऐसी भूल होती है, अनुकूलताके रसमें और जिसे प्रतिकूलता हो उसे अनुकूलता प्राप्त करनेका रस चढ़ता है, इसलिये वही बात हो गयी। और एक दूसरा रस चढ़ता है क्षयोपशमज्ञानका। जो इन्द्रियज्ञान है, जिसे बुद्धि कहते हैं, वह यदि पूर्वकर्मके कारणसे उसका क्षयोपशम विशेष हो, उसमें भी कारण पूर्वकर्मका है, तो उसका रस चढ़ता है। तो वह अतीन्द्रियज्ञानसे बहु दूर चला जाता है। जैसे संयोगके रसवाला जीव असंयोगी आत्मतत्त्वसे बहुत दूर चला जाता है, ऐसे ही इन्द्रियज्ञानका रसवाला जीव अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभावसे अत्यन्त-अत्यन्त दूर चला जाता है। इस दो जगह सावधानी-जागृति रखनी आवश्यक है। यदि यहाँ जागृत हो जाय कि वह कोई भी प्रकार हो, परन्तु वह कर्मकृत है। स्वभाव अलग बात है और अलग विषय है, यह कर्मकृत है। ऐसा करके उसकी किंमत ऊड़ा दे, उसकी तुच्छता करे। संयोगकी, भले अनुकूलता हो या प्रतिकूलता हो, दोनोंको तुच्छ गिने। उघाड़ चाहे जितना भी हो उसे तुच्छ गिने। और एक स्वभावका आदर करनेका लक्ष्य रखे तो ही बचे, अन्यथा रस चढे बिना रहे नहीं। यह परिस्थिति है। वह जो रस चढ जाता है, उसमें पूरा आयुष्य व्यतीत हो जाता है।

यहाँ निर्णयपूर्वक आत्मस्वरूपका ग्रहण करके निर्विकल्प भावश्रुतज्ञान द्वारा शान्तिको प्रगट करके और पूर्ण शान्ति प्राप्त करनेकी एक ही वचनमृतमें बात कर दी है। संक्षेपमें भी, जैसे गागरमें सागर भर दिया हो, ऐसा विषय लिया है। (यहाँ तक रखते हैं)।



पूज्य बहिनश्री की तत्वचर्चा



प्रश्न :- ज्ञानीको कर्मका तीव्र उदय आये तब क्या शंका नहीं पड़ती होगी कि मेरा निर्णय पलट तो नहीं जायेगा?

समाधान :- उसे शंका पड़ती ही नहीं, उसकी सहज धारा जुदी ही रहती है। जिस क्षण विकल्प आये उस क्षण भी ज्ञायककी धारा रहती है, फिर उसे याद नहीं करना पड़ता। अपना-ज्ञायकका-अस्तित्व ग्रहण हुआ उसके साथ उस ज्ञायककी जोरदार परिणति रहती हैं, इसलिये विकल्पमें तन्मय होता ही नहीं, न्यारा रहता है। विकल्प आये तथापि वह न्यारा रहकर आता है, अपने सहज अस्तित्वकी-ज्ञायककी-परिणतिपूर्वक वह विकल्प होता है और वह भिन्न रहता है; उसमें शंका पड़ती ही नहीं।

(स्वानुभूतिदर्शन-५८४)



प्रश्न :- धारणाज्ञान तक आता है, समझमें भी बैठता है, परंतु परिणति नहीं बदलती, तो उसका कोई उपाय है?

समाधान :- जो एकत्वबुद्धि की परिणति हो रही है उस परिणतिको न्यारा नहीं करता। निर्णय हो गया है कि यह मैं जुदा ही हूँ, ज्ञायक हूँ, परंतु प्रतिक्षण जो विकल्पोंके साथ एकत्वबुद्धि कर कहा है- एकत्वपूर्वक परिणमित हो रहा है-उस एकत्वको नहीं तोड़ता इसलिये परिणति नहीं पलटती। एकत्वको तोड़नेका प्रयास करे तो वह प्रयास प्रथम अभ्यासरूप हो सकता है। एत्वबुद्धि तोड़नेका अभ्यास चलता है तथापि एकत्वबुद्धिकी परिणति हो रही है।-उस स्थितिमें सहजता नहीं है इसलिये विचार करना पड़ता है कि मैं जुदा हूँ।-ऐसा विचारपूर्वक अभ्यास होता है, सहज नहीं होता। स्वानुभूति हो तभी सहज होता है।

(स्वानुभूतिदर्शन-५८५)



प्रश्न :- दृष्टि ज्ञान और अंशतः स्वरूपाचरणचारित्र-वह सब क्या साथ ही होता है?

समाधान :- दृष्टिका विषय अखंड द्रव्य है। दृष्टि उसे ग्रहण करती है, ज्ञान सब जानता है और चारित्रमें लीनता होती है-यह सब एकसाथ है। विशेष चारित्र भले ही बादमें हो, परंतु प्रारंभमें सब साथ ही प्रगट होता है। दृष्टिका विषय मुख्य होता है और ज्ञान सब जानता है अर्थात् भेदज्ञान करता है कि यह मैं हूँ और यह मैं नहीं। स्व-रूपसे हूँ और पर-रूपसे नहीं-इस प्रकार ज्ञान स्व-परको प्रकाशित करता है। दृष्टि एक अपनेको-अखंडको ग्रहण करती है, ज्ञान सबको जानता है और स्वरूपाचरण चारित्र अंशतः होता है-इस प्रकार सब साथ होता है।

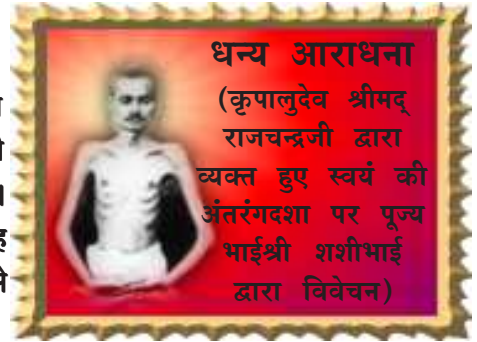
(स्वानुभूतिदर्शन-५८६)



६९६

बंबई, आषाढ वदी ८, रवि, १९५२

‘एक धारासे वेदन करने योग्य प्रारब्धका वेदन करते हुए कुछ एक परमार्थ व्यवहाररूप प्रवृत्ति कृत्रिम जैसी लगती है, इत्यादि कारणोंसे मात्र पहुँच लिखना भी नहीं हुआ। चित्तको जो सहज भी आलंबन है, उसे खींच लेनेसे वह आर्त्ता प्राप्त करेगा, ऐसा जानकर उस दयाके प्रतिबंधसे यह पत्र लिखा है।’



पूर्वप्रारब्ध, पुरुषार्थकी एक धारासे वेदन करने योग्य है-ऐसा उनका अभिप्राय है और पुरुषार्थ भी है। इस प्रकार प्रारब्धका वेदन करते हुए दूसरी कोई परमार्थ व्यवहाररूप प्रवृत्ति (पत्र लिखना या धर्मचर्चा) करनी पड़े, वह सहज होना नामुमकिन होनेसे, वैसी प्रवृत्ति कृत्रिम जैसी लगती है। पुरुषार्थकी मुख्यतामें व्यवहार-प्रवृत्ति गौण करने योग्य है। इसलिये प्रवृत्ति करनेकी इच्छा नहीं है, फिर भी वह प्रवृत्ति करनी पड़े तो उसमें सहजता नहीं रहती, और सूक्ष्मरूपसे अवलोकन करने पर अल्प कृत्रिमता लगती है; जिससे मुमुक्षुओंके आये हुए पत्रोंकी मात्र पहुँच लिखनेका भी नहीं हुआ है। मुमुक्षुओंके साथ परमार्थविषयक पत्र लिखनेमें मनको थोड़ा बाह्य अवलंबन रहता है, उतना अवलंबन भी खींच लेनेसे, शायद चित्त आर्त्ताका अनुभव करेगा, (मैं नहीं, क्योंकि ‘चित्तसे मैं भिन्न हूँ’, मुझे बाह्य आलंबनकी आवश्यकता भी नहीं है, ऐसा भिन्न भाव चित्तके प्रति यहाँ व्यक्त होता है।) ऐसा जानकर उस चित्तके प्रति दयाके रागरूप प्रतिबंधसे यह पत्र लिखा है।

६९७

बंबई, आषाढ वदी ८, रवि, १९५२

‘आत्माको मूलज्ञानसे चलायमान कर डाले ऐसे प्रारब्धका वेदन करते हुए ऐसा प्रतिबंध उस प्रारब्धके उपकारका हेतु होता है, और किसी विकट अवसरमें एक बार आत्माको मूलज्ञानके वमन करा देने तककी स्थितिको प्राप्त करा देता है, ऐसा जानकर, उससे डरकर आचरण करना योग्य है, ऐसा विचारकर पत्रादिकी पहुँच नहीं लिखी; सो क्षमा करें ऐसी नम्रतासहित प्रार्थना है।’

कृपालुदेवका यह लाक्षणिक प्रत्युत्तर है। उदयकालमें उदयप्रसंगको, भिन्न रहकर वेदन करनेके पुरुषार्थके यहाँ दर्शन होता है। स्वयं सततरूपसे अंतरपुरुषार्थमें इतने निमग्न हैं कि परमार्थ-विषयक पत्रव्यवहार भी छूट जाता है। उन्हें प्रारब्धका ऐसा विकट उदय इस अवसर पर चल रहा है कि जो आत्माको मूलज्ञानसे चलित कर दे; और यदि विशेषरूपसे स्वरूप सावधानी न रही तो एक दफा आत्माको निजज्ञानसे वमन करा देवे यहाँ तककी परिस्थिति हो जाय; ऐसा जानकर-डर कर आचरण करना योग्य है -ऐसे विचारसे, पत्रादिकी पहुँच तक नहीं लिखी गई।-ऐसे प्रवर्तनमें उनकी असाधारण विचक्षणताका दर्शन होता है। आत्मकार्यके अनुलक्षसे तो वह योग्य ही किया है। फिर भी सामनेवाले जीवको व्यवहारसे अनुकूल न होनेके कारण, लोकोत्तर सजन्जनतापूर्वक, नम्रतापूर्वक उन्होंने क्षमा याचना की है। स्वयं एक असाधारण महापुरुष होने पर भी मानादिकी कल्पना छोड़कर, मुमुक्षुकी जिज्ञासाको न्याय नहीं दे सकते हैं, ऐसा जानकर क्षमायाचना की है।

ज्ञानीपुरुषकी इस प्रकारकी आशयगंभीरता, धीरज, उपशम और पुरुषार्थप्रधानरूपसे प्रवर्तन करनेकी कार्यपद्धति सचमुच आश्चर्यकारक है! अत्यंत भक्तिसे नमस्कार हो! उनकी लोकोत्तर गुणगंभीरताको!